THE TIMES OF INDIA

Date: 24-08-18

Maximum State

Instead of reaching out in all directions, institutions must focus on core capabilities

TOI Editorials

A recent Supreme Court order directing all district judges to accept and examine grievances from devotees regarding the management of shrines opens a whole new front of litigation for the judiciary. The grievances could range from hygiene, protection of assets, utilisation of offerings to denial of entry into a shrine. District judges have to send reports to high courts which are expected to treat them as PILs if necessary and issue judicial directions. The sweeping order, applicable across India, was pronounced by Supreme Court in a specific petition relating to alleged irregularities at Puri Jagannath temple.

Judges getting entangled in the nitty-gritties of temple, mosque or church administration looks like judiciary stepping into the domain of the executive, when it is not clear that even the executive should get involved in such matters. No less important is judiciary's struggle to cope with increasing litigation. Nearly 2.8 crore cases are pending in subordinate courts, one-fourth of this pending for over five years. Another 40 lakh cases are pending in high courts. Given this situation it is unclear how judges will do justice to their core responsibilities, let alone the new ones.

Democracy assumes the separation of powers, with judiciary, legislature and executive sticking to their own domains. Given limited state capacity in India, it would help enormously in terms of public service delivery if each arm of the state were to pick up some priority tasks within its domain and focus sharply on them. Instead the Indian state is protean, spreading itself everywhere, one arm getting in the way of the other. It tries to be everything to everyone – from guarding people's morals to running industries, banks, mines and airlines, to taking over temple managements. No wonder that it lacks the Midas touch.

India's diversity and complexity make centralised diktats hard to execute. India has lakhs of shrines of various denominations and disputes are frequent. Judicial monitoring or state takeover is impossible and uncalled for. Local communities are best suited to demanding accountability from shrine managements. Government or judicial involvement will be interpreted as state encroaching on religious freedoms – both majority and minorities will unite in opposition. This is where the unfinished agenda of decentralisation and empowering civic bodies as well as civil society can help. One can only regard wistfully one of Prime Minister Narendra Modi's pre-election slogans – "minimum government, maximum governance" – when today India's judiciary, legislature and executive all appear to believe in maximum government.

Date: 24-08-18

THE ECONOMIC TIMES

Rupee Bonds Rather Than Foreign Aid

Let Kerala's well-wishers abroad buy them cheap

ET Editorials

The controversy over accepting foreign aid for reconstruction in Kerala is best avoided. The matter should not be seen just from the perspective of coping with flood damage. Accepting foreign aid has implications for the country as a whole. Suppose India accepts aid from the UAE, and then, another nation offers aid that India cannot accept, say, because that nation is in the habit of sending terrorists into India and does not deserve to occupy any moral ground, high or low, vis-à-vis India. India would then have to turn it down, inviting accusations of discriminating against some nations in the area of aid legitimacy. It is best to not accept aid from other governments for disaster relief.

This does not mean that India should turn its back on external generosity in the face of a domestic calamity or that Kerala should be starved of funds for reconstruction. Non-government agencies and individuals are free to send donations. An even better way to let external wellwishers provide resources to help with post-disaster reconstruction in the state is to invite them to invest in rupee bonds issued by Kerala-based companies that are either already involved in building infrastructure in the state or are newly created to undertake post-disaster recovery.

If they are issued in India, and there is no room left in the corporate bond segment permitted for foreign portfolio investors, RBI could create that space without difficulty. At present, issuing rupee bonds abroad is treated as external commercial borrowing, and it is unclear that bond issuance abroad by state government-owned entities would not fall foul of the bar on state governments borrowing abroad on their own. Kerala's disaster relief is as good an occasion as any to clarify the matter.

The coupon/pricing of the bond could reflect any noncommercial intent in their purchase by foreign investors. Concessionary pricing would spell illiquidity for a while. But the bonds would be a tidy bet on Indian productivity and rupee gains that would sit well in a diversified portfolio of long-term investments.

Date: 24-08-18

दैनिक जागरण

कानून का दुरुपयोग

संपादकीय

सुप्रीम कोर्ट ने यह बिल्कुल सही कहा कि विवाह संबंधी विवादों और दहेज हत्या के मामलों में अपराध में लिप्तता की पुष्टि के बिना पति के संबंधियों को नामजद नहीं किया जाना चाहिए। इसी के साथ सुप्रीम कोर्ट ने अदालतों को भी यह हिदायत दी कि वे ऐसे मामलों में पति के दूर के रिश्तेदारों के खिलाफ कार्यवाही में सतर्कता बरतें, लेकिन यह कहना कठिन है कि केवल इतने से बात बनेगी और जमीनी हकीकत बदलेगी। यह फैसला एक ऐसे मामले में दिया गया, जिसमें एक महिला ने अपने बच्चे के अपहरण में पति के मामाओं को भी शामिल बताया था। सुप्रीम कोर्ट ने माना कि पहली नजर में इन मामाओं के खिलाफ मामला नहीं बनता, लेकिन इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि न तो पुलिस ऐसे किसी निष्कर्ष पर पहुंच सकी और न ही हैदराबाद उच्च न्यायालय।

स्पष्ट है कि यदि पुलिस अपना काम सही तरह नहीं करेगी तो फिर वैवाहिक विवादों और दहेज हत्या के मामलों में निर्दोष लोग झूठे आरोप की चपेट में आकर कष्ट उठाते रहेंगे। नीति और न्याय का तकाजा यही कहता है कि किसी भी मामले में किसी को केवल आरोपों के आधार पर गिरफ्तार नहीं किया जाना चाहिए, लेकिन दुर्भाग्य से दहेज प्रताड़ना के साथ अन्य कई मामलों में ऐसा ही है। पत्नी की प्रताड़ना और दहेज हत्या के मामलों में आम तौर पर पति के साथ उसके उसके मां-बाप, परिवार के अन्य सदस्य और कई बार दूर के रिश्तेदार भी आरोपित बना दिए जाते हैं। हालांकि झूठे आरोपों के आधार पर फंसाए गए ऐसे लोगों को अदालतों से राहत मिल जाती है, लेकिन जब तक ऐसा होता है तब तक वे बदनामी के साथ-साथ अन्य तमाम तरह की परेशानी से दो-चार हो चुके होते हैं। दरअसल इसी कारण दहेज प्रताड़ना संबंधी धारा 498-ए को एक ऐसे कानूनी प्रावधान के तौर पर अधिक जाना जाता है, जिसका जमकर दुरुपयोग होता है।

आम धारणा है कि यह धारा बदला लेने का हथियार बन गई है। विडंबना यह है कि कुछ समय पहले जब सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्देश दिया था कि दहेज विरोधी कानून में तुरंत गिरफ्तारी नहीं होनी चाहिए तो यह बहस छिड़ गई कि महिलाओं के हित वाले एक कानून को कमजोर करने का काम कर दिया गया। बहस आगे बढ़ी तो सुप्रीम कोर्ट उक्त फैसले पर फिर से विचार करने के लिए तैयार हो गया। बेहतर है कि वह इस बारे में अपना निर्णय यथाशीघ्र दे, ताकि संशय का माहौल दूर हो। दुनिया में ऐसा कोई कानून नहीं, जिसका दुरुपयोग न होता हो, लेकिन किसी भी कानून को केवल इसलिए कमजोर नहीं किया जाना चाहिए कि उसका दुरुपयोग हो रहा है। दरअसल जरूरत कानूनों के दुरुपयोग को रोकने के उपाय करने की है। ये उपाय तब कारगर होंगे जब कानून नीर-क्षीर विवेक से बनेंगे और पुलिस सुधारों पर अमल होगा। हालांकि सुप्रीम कोर्ट पुलिस में सुधार के लिए कोशिश कर रहा है, लेकिन उसमें संकीर्ण राजनीति बाधक बन रही है। अगर पुलिस सुधारं संबंधी सुप्रीम कोर्ट के एक दशक से अधिक पुराने दिशा-निर्देशों पर सही तरह अमल नहीं हो सका है तो सियासी दलों की संकीर्णता के कारण ही।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 24-08-18

जलवायु परिवर्तन से बढ़ गया मिट्टी के क्षरण का जोखिम

सुरिंदर सूद

पहले इन तथ्यों पर गौर करते हैं। करीब 12 करोड़ हेक्टेयर जमीन यानी देश के कुल भूमि क्षेत्रफल का करीब 37 फीसदी हिस्सा किसी न किसी स्तर पर निम्नीकृत हो चुका है। इसकी बड़ी वजह पानी के बहाव के चलते होने वाला मृदा अपरदन है। हरेक साल एक वर्ग किलोमीटर इलाके में औसतन 1,535 टन मिट्टी नष्ट हो जाती है। मिट्टी के व्यर्थ होने से पौधों के सालाना 53.7 लाख टन पोषण तत्त्व भी नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, करीब 1.34 करोड़ टन की संभावित फसली उपज भी मिट्टी नष्ट होने से नहीं उग पाती है। इसकी वजह से 2015-16 की कीमतों के आधार पर कृषि क्षेत्र को सालाना 205.32 अरब रुपये का नुकसान होता है।

राष्ट्रीय कृषि विज्ञान अकादमी (एनएएएस) की तरफ से मृदा अपरदन पर हाल ही में जारी नीति पत्र में ऐसे ही कुछ अनुमान लगाए गए हैं। प्राकृतिक विकास की प्रक्रिया में जमीन की एक सेंटीमीटर की परत तैयार होने में 200 से लेकर 400 साल तक का समय लगने और इसे उपजाऊ बनने में 3,000 साल का और समय लगने जैसे पहलुओं को देखें तो एनएएएस के ये आंकड़े काफी महत्त्वपूर्ण हैं। अगर सैकड़ों वर्षों की विकास प्रक्रिया में बनी मिट्टी एक बार नष्ट होती है तो फिर वह हमेशा के लिए खत्म हो जाती है। लिहाजा इस तरह मिट्टी एक तरह से गैर-नवीकरणीय प्राकृतिक संसाधन है जिसे हर कीमत पर संरक्षित रखने की जरूरत है। हालांकि वाटरशेड विकास के सिद्धांत पर आधारित मृदा एवं जल संरक्षण के कई कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं लेकिन दुर्भाग्य से वर्तमान में मनचाहे नतीजे नहीं मिल पा रहे हैं।

भूमि और उसके भौतिक, रासायनिक एवं जैविक स्वास्थ्य को संरक्षित रखना इस लिहाज से भी जरूरी है कि यह सीमित है और इसकी गुणवत्ता में लगातार ह्रास हो रहा है। इसी के साथ विभिन्न विकास गतिविधियों के चलते जमीन की मांग भी बढ़ रही है। शुद्ध सिंचित क्षेत्र लंबे समय से 14-14.2 करोड़ हेक्टेयर पर कमोबेश अटका हुआ है। प्रति व्यक्ति भूमि उपलब्धता 1951 के 0.90 हेक्टेयर से घटकर 2007-08 में महज 0.27 हेक्टेयर पर आ गई थी। अनुमान है कि वर्ष 2050 तक यह आंकड़ा और भी सीमित होकर केवल 0.19 हेक्टेयर ही रह जाएगा। इससे भी बुरा यह है कि खेती योग्य जमीन की प्रति व्यक्ति उपलब्धता 1961 के 0.34 हेक्टेयर से घटकर 2013 में 0.12 हेक्टेयर पर आ गई। जबकि निर्वाह के लिए प्रति व्यक्ति 1 हेक्टेयर सिंचित भूमि या 2 हेक्टेयर असिंचित भूमि को मानक सीमा माना जाता है।

एनएएएस का नीति-पत्र कहता है कि जलवायु परिवर्तन मिट्टी के क्षरण के खतरे को क्रमिक रूप से बढ़ा रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप में सालाना बारिश की मात्रा एवं तीव्रता वर्ष 2050 तक 10 फीसदी बढ़ जाने का अनुमान है। असल में, भारी बारिश और बादल फटने जैसी प्रतिकूल मौसमी घटनाओं में बढ़ोतरी के कुछ सबूत पहले ही दिखने लगे हैं। नीति-पत्र में उल्लिखित अध्ययन रिपोर्टों के मुताबिक बारिश की तीव्रता में 1 फीसदी बढ़ोतरी होने पर मिट्टी के क्षरण में 2 फीसदी की वृद्धि हो सकती है। यह भारत में मिट्टी को जलवायु परिवर्तन के प्रतिकूल असर के लिहाज से और अधिक असुरक्षित कर देता है। ऐसी स्थिति में भारत की खाद्य एवं पर्यावरणीय सुरक्षा भी कमजोर पड़ सकती है।

ऐसी स्थिति में मृदा एवं जल संरक्षण के लिए चलाए जा रहे कार्यक्रमों पर अधिक ध्यान देने एवं उन पर खर्च बढ़ाने की जरूरत है। इन संरक्षण कार्यक्रमों में किए जाने वाले निवेश पर मिलने वाले प्रचुर रिटर्न के अलावा कई दूसरे लाभ भी हैं। इससे फसलों की उपज में वृद्धि, रोजगार के अधिक अवसरों के सृजन, किसानों की आय को दोगुनी करने, गरीबी में कमी लाने और भूमिगत जल संसाधनों के संवद्र्धन जैसे लाभ भी होते हैं। देश में चल रहे 636 वाटरशेड विकास कार्यक्रमों के व्यापक आकलन से पता चलता है कि ये प्रति हेक्टेयर भूमि पर करीब 151 मानव श्रम दिवस का अतिरिक्त रोजगार पैदा करते हैं, साल भर में लगने वाली फसलों की आवृत्ति में 35 फीसदी वृद्धि होती है, पानी के व्यर्थ जाने में 45 फीसदी की कटौती होती है और प्रति हेक्टेयर मृदा क्षरण में भी सालाना 1.1 टन की कमी आती है। वाटरशेड पर आधारित मृदा एवं जल संरक्षण कार्यक्रमों में किए गए निवेश पर औसतन 27.4 फीसदी रिटर्न मिला है। यह आंकड़ा इन संरक्षण कार्यक्रमों के लिए अधिक बजट आवंटन को उचित ठहराने के लिए काफी है।

हालांकि इस दिशा में एक बाध्यता यह है कि ये तमाम लाभ तभी मिल सकते हैं जब जमीन का उपयोग उसके गुण-दोषों को ध्यान में रखते हुए किया जाए। अगर गलत तरीके से जमीन का इस्तेमाल किया जा रहा है तो मिट्टी की गुणवत्ता में और भी अधिक कमी आ सकती है। खेती-योग्य जमीन का इस्तेमाल आम तौर पर गैर-कृषि कार्यों के लिए नहीं किया जाना चाहिए। केवल असाधारण स्थितियों में ही इसकी इजाजत दी जा सकती है। इसके अलावा नदियों के जल ग्रहण क्षेत्रों में भी अधिक छेड़छाड़ नहीं की जानी चाहिए। इस तरह के हालात में जरूरत इस बात की है कि भूमि के उपयोग की एक सुविचारित नीति अपनाई जाए जो भूमि की क्षमता की श्रेणियों पर आधारित हो।

Date: 24-08-18

उथल-पुथल के बीच भारत में अवसर

आकाश प्रकाश

वैश्विक स्तर पर उभरते बाजार अब आधिकारिक तौर पर मंदी वाले बाजार में तब्दील हो चुके हैं। एमएससीआई सूचकांक 25 जनवरी के अपने उच्चतम स्तर से 10 फीसदी नीचे आ चुका है। उभरते बाजारों की मुद्रा का सूचकांक फरवरी के मध्य से अमेरिकी डॉलर की तुलना में अपने स्तर से 16 फीसदी गिर चुका है और उभरते बाजार बॉन्ड सूचकांक (ईएमबीआई) का दायरा फरवरी के आरंभ से अब तक 101 आधार अंक तक विस्तृत हो चुका है। उभरते बाजारों की स्थिति कठिनाई भरी है। मजबूत डॉलर, कमजोर और कम सुसंगत वैश्विक बाजार और वृद्घि तथा बढ़ता प्रतिफल, ये सभी दिक्कत पैदा कर रहे हैं। चीन के आंकड़ों में भी लगातार नरमी आ रही है और उसकी मुद्रा रेनमिनबी संवेदनशील बनी हुई है। हालांकि चीन में हमें सहजता आती दिख रही है लेकिन अभी भी इस बात की संभावना कम ही है कि हमें वर्ष 2008 की तरह कोई प्रोत्साहन कार्यक्रम देखने को मिले। ऐसा कोई भी पैकेज जिंस बाजारों और उभरते बाजारों को उबारने में सक्षम है।

उभरते बाजारों में मूल्यांकन में कमी आई है। इन बाजारों के शेयरों की कीमत अब विकसित देशों की तुलना में तकरीबन 10 फीसदी तक कम है। इतना ही नहीं विकसित देशों के बाजार लाभांश प्रतिफल के मामले में भी करीब 25 आधार अंक तक बेहतर हैं। परिसंपत्ति वर्ग में कमजोरी के बावजूद अब तक हमें आत्मसमर्पण देखने को नहीं मिला है। उभरते

बाजारों में मुद्रा की आवक अब तक स्थिर बनी रही है। ईएमईए को छोड़कर अधिकांश क्षेत्रों में वर्ष की शुरुआत से अब तक आवक सकारात्मक बनी रही है। एशिया के उभरते बाजारों में सीमित बिकवाली नजर आई है। एक वर्ष के आधार पर भी देखें तो उभरते बाजार सकारात्मक हैं। इन बाजारों पर पिछले दबाव और इस अवधि में पूंजी के बहिर्गमन को देखें कीमतों में 20 फीसदी गिरावट के बावजूद हालात बुरे नहीं हैं।

उभरते बाजारों की बात करें तो भारत सबसे बढिय़ा प्रदर्शन करने वालों में से है। डॉलर के संदर्भ में भी यह एकमात्र बाजार है जो सकारात्मक है। यह निष्कर्ष इसलिए भी दिलचस्प है क्योंकि किसी ने यह अनुमान नहीं जताया था कि भारत 2018 के सबसे बेहतर प्रदर्शन करने वाले उभरते बाजारों में से एक होगा। यह सच है कि भारत में सूचकांक चंद शेयरों की बदौलत तेजी पर हैं और सतह के नीचे अगर मिड कैप सूचकांकों पर नजर डालें तो डॉलर के संदर्भ में वे 20 फीसदी तक नीचे हैं। बेहतर प्रदर्शन करने वाले शेयरों में कई ऐसे हैं जिनका स्वामित्व विदेशी है। ऐसे में वैश्विक निवेशकों के दृष्टिकोण से देखें तो लाभ वास्तविक नजर आते हैं।

प्रश्न यह है कि भारत ने दुनिया भर के पूंजी आवंटकों को चकित कैसे किया और वह अन्य बड़े उभरते बाजारों से बेहतर प्रदर्शन कैसे कर रहा है? एक स्वाभाविक वजह तो यह है कि भारत वैश्विक वृद्धि और व्यापार से प्रत्यक्ष तौर पर उतना संबंधित नहीं है जितने कि अन्य देश। व्यापार युद्ध, शुल्क और पिछले कुछ दशक के वैश्विक माहौल ने भारत को काफी कम प्रभावित किया है। भारत वैश्वीकरण से उस कदर लाभान्वित भी नहीं हुआ जितना कि एशिया के उत्तरी भाग के देश। यही वजह है कि वैश्वीकरण के धीमेपन से भी वह अप्रभावित है।

भारत अधिकांशत: घरेलू मांग से संचालित होने वाला देश है। वर्ष 2017 में उत्तरी एशिया और अन्य वैश्वीकृत अर्थव्यवस्थाओं ने वैश्विक वृद्धि का पूरा लाभ लेते हुए जबरदस्त प्रदर्शन किया। भारत को मजबूत वैश्विक अर्थव्यवस्था का कोई फायदा नहीं मिला। वैश्विक अर्थव्यवस्था के समक्ष सीमित खुलेपन की वही कमी आज हमारे लिए ताकत बन गई है क्योंकि वैश्विक अर्थव्यवस्था में धीमापन आ रहा है और व्यापारिक युद्ध केंद्र में हैं। वर्ष 2018 में भारत इकलौती ऐसी अर्थव्यवस्था वाला देश था जहां वृद्धि हो रही थी। उभरते बाजारों में कमजोरी आने के साथ-साथ जिंस बाजार में भी कमजोरी आई है। उदाहरण के लिए तांबे की कीमत 20 फीसदी गिरी है। जिंस कीमतों में गिरावट के बाद आशा है तेल कीमतों में भी कमी आएगी। यह भी भारत के लिए सकारात्मक संकेत होगा। भारत में आय में सुधार देखने को मिल रहा है। वर्ष 2019 की पहली तिमाही में आय अनुमान से थोड़ी बेहतर रही है। बैंकों और तेल कंपनियों को छोड़ दिया जाए तो ईपीएस में 15 फीसदी और बिक्री में 20 फीसदी की बढ़ोतरी की गई।

इसमें दो राय नहीं कि अर्थव्यवस्था मजबूत हो रही है। ग्रामीण क्षेत्रों की मांग में सुधार हो रहा है, सरकारी व्यय पटरी पर है और निजी क्षेत्र के पूंजीगत व्यय में सुधार के संकेत मिल रहे हैं। देश के वृहद संकेतक भी मजबूत नजर आ रहे हैं। समायोजन की प्रक्रिया लगभग पूरी हो चुकी है। दरें पहले ही ऊंची हैं और मुद्रास्फीति स्थिर बनी हुई है। अन्य उभरते बाजारों की अस्थिरता देखते हुए भारत की वृहद स्थिति काफी बेहतर मानी जा सकती है। उभरते बाजारों की मौजूदा उथलपुथल को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत सुरक्षित स्थिति में है। कई वैश्विक निवेशकों के मन में देश को लेकर आशंका कम हुई है। भारत को लेकर जो भी चिंताएं बची हुई हैं वे मोटे तौर पर मूल्यांकन से संबंधित हैं। बाजार कतई सस्ते नहीं हैं। खासतौर पर कंपनियों की गुणवत्ता की बात करें तो ऐसा नहीं है। लगभग हर क्षेत्र में हमारी कंपनियां ऐसे मूल्यांकन पर काम कर रही हैं जो दुनिया में सबसे अधिक है। दूसरी चिंता राजनीति से जुड़ी हुई है। जैसे-जैसे हम वर्ष के अंत की ओर बढ़ रहे हैं वैसे वैसे राजनीतिक अनिश्चितता का बढऩा लाजिमी है।

राजनीति को लेकर विदेशी निवेशक कम चिंतित हैं और घरेलू निवेशक ज्यादा। घरेलू निवेशकों को मौजूदा शासन का कोई विकल्प भी नजर नहीं आ रहा है। उन्हें इस बात की समझ है कि राजनीतिक जोखिम कम नहीं हैं। घरेलू क्षेत्र में वित्तीय प्रवाह को लेकर भी चिंताएं हैं। इनमें कमी आई है लेकिन फिर भी इनकी मौजूदगी की अनदेखी नहीं की जा सकती है। अगर हालात में किसी तरह का पलटाव आता है तो बाजार पर दबाव बन सकता है। निवेशकों ने भी अब तक बहुत परिपक्वता दिखाई है लेकिन बढ़ती अस्थिरता से हालात बदल सकते हैं। इन मासिक आवक ने बाजार को गिरावट से बचाया है।

भारत को अन्य उभरते बाजारों की तुलना में बढिया प्रदर्शन जारी रखना होगा। कम से कम तब तक जब तक उभरते बाजार बिकवाली की मुद्रा में हैं। बहरहाल, मजबूत प्रदर्शन की बात करें तो वह अभी मुश्किल नजर आ रहा है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि इस वर्ष प्रतिफल कमजोर रहेगा। भारत 2018 में कारोबारी दृष्टि से खराब नहीं है, बस ज्यादा लालच से बचना होगा।

Date: 24-08-18

सही निर्णय

संपादकीय

बाढ़ से जूझ रहे केरल में बारिश अवश्य धीमी हो गई है लेकिन वहां राहत कार्य के लिए धन को लेकर उपजा विवाद धीमा पडऩे का नाम नहीं ले रहा। केंद्र सरकार ने अब तक राज्य में राहत कार्य के लिए 600 करोड़ रुपये की राशि दी है जबकि राज्य के मुख्यमंत्री पी विजयन ने 2,000 करोड़ रुपये की राशि तत्काल सहायता के रूप में मांगी है। केरल के वित्त मंत्री टी एम थॉमस आइजक ने कहा है कि राज्य को पुनर्निर्माण के लिए 20,000-30,000 करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी। केंद्र और राज्य सरकार अभी भी यह अनुमान लगाने में जुटी हैं कि वास्तव में कितनी राशि की आवश्यकता है। इस बीच संयुक्त अरब अमीरात (यूएई) ने स्वेच्छा से केरल में राहत कार्य में 700 करोड़ रुपये की मदद देने की पेशकश की। केंद्र सरकार ने इस पेशकश को विनम्रतापूर्वक ठुकरा दिया लेकिन विजयन ने अपने राज्य के साथ अमीरात के विशेष रिश्तों का हवाला देते हुए कहा कि यूएई के साथ 'किसी अन्य देश' जैसा व्यवहार नहीं किया जा सकता है।

इसमें दो राय नहीं है कि केरल ने बाढ़ में ऐसी तबाही मचाई है जो एक सदी में एक या दो बार ही देखने को मिलती है। उसे हरसंभव मदद की आवश्यकता है। राज्य का बहुत बड़ा हिस्सा पानी में डूबा हुआ है और वहां के कई निवासी बेघर हो गए हैं। परंतु इन बातों के बीच केंद्र द्वारा यूएई की प्रत्यक्ष मदद को ठुकराए जाने में कोई गलती नहीं नजर आती। विदेशी मुल्कों द्वारा देश के राज्यों को सीधी मदद की पेशकश के साथ ऐसा किया जाना उचित है। हर तरह की मदद को केंद्र सरकार के माध्यम से ही भेजा जाना चाहिए और यह बात समय की कसौटी पर खरी उतरी है। चीन के उदाहरण पर गौर कीजिए। वह अपने आसपास जिन मुल्कों में विकास संबंधी सहायता करता है उनकी स्थानीय राजनीति को प्रभावित भी करता है। क्या चीन को भारत के पूर्वोत्तर राज्यों की यूं मदद करने की इजाजत दी जा सकती है? या फिर क्या पाकिस्तान को बिना केंद्र सरकार को शामिल किए जम्मू कश्मीर की सरकार की मदद करने दी जा सकती है?

यह सुरक्षा के लिए खतरा होगा। अगर एक बार ऐसा हो गया तो भविष्य में केंद्र सरकार को ऐसी पेशकश ठुकराने में मुश्किल आएगी। संविधान के मुताबिक विदेश नीति केंद्र का मसला है। राज्य सरकारों को द्विपक्षीय सहायता और सहयोग समझौते करने देना उनको स्वतंत्र विदेश नीति संचालित करने देने जैसा है। यह किसी भी परिस्थिति में उचित नहीं।

भारत ने थाईलैंड, मालदीव और कतर जैसे कई अन्य देशों की सहायता पेशकश भी ठुकराई है। वर्ष 2004 से ही एक नीति के तहत भारत प्राकृतिक आपदाओं के लिए विदेशी सहायता नहीं लेता। ऐसा बिल्कुल नहीं है कि केरल के साथ किसी तरह भेदभाव किया जा रहा है। मामला केवल केंद्र और राज्य के बीच राहत राशि की मात्रा का है। इसे शीघ्र हल करना होगा। जिस राशि की जरूरत है वह इतनी भी नहीं है कि केंद्र और राज्य के तालमेल से हासिल न हो सके। यह केंद्र की जिम्मेदारी है कि वह राष्ट्रीय बजट में से राज्य सरकार की मांग के मुताबिक सहायता पैकेज तैयार करे। अगर वह ऐसा करने में नाकाम रहे तो उसे जवाबदेह भी ठहराया जाए। देश का आर्थिक आकार अब ऐसा हो चुका है वह सहायता राशि पर कतई निर्भर न हो। अगर केरल को धन की तंगी हो रही है तो यह हमारी घरेलू व्यवस्था की कमी दर्शाता है। इसका विदेशी राशि के स्वीकार या अस्वीकार करने से कोई लेनादेना नहीं है। यह घरेलू राजनीति और घरेलू जवाबदेही का मामला है।

Date: 23-08-18

पुनर्विचार जरूरी

संपादकीय

यूरोप के कुछ देशों, जापान, कोरिया, मिस्र और श्रीलंका ने अमेरिका के साथ मिलकर विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीए) में भारत की निर्यात संवर्द्धन योजनाओं के खिलाफ आवाज उठाई है। गत मार्च में अमेरिका ने कहा था कि भारत अपने निर्यातकों के लिए लक्षित कर और सब्सिडी योजनाएं नहीं बना सकता क्योंकि ऐसा करना डब्ल्यूटीए के समझौते का उल्लंघन है। व्यापार को लेकर ट्रंप प्रशासन के कई कदम ऐसे रहे हैं जिन्हें दुनिया में समर्थन नहीं मिला परंतु इस बार मामला उलट है। भारत अपनी बात वजनदार तरीके से नहीं रख सका। ये योजनाएं डब्ल्यूटीओ के नियमों के अनुरूप सबसे गरीब देशों के लिए आरक्षित हैं। ऐसे देशों के लिए जहां प्रति व्यक्ति आय 1,000 डॉलर सालाना से कम है। भारत इस सीमा को बहुत पहले पार कर चुका है और अब उसकी प्रति व्यक्ति आय इसके दोगुने के बराबर है। इसके बावजूद सरकार न केवल निर्यात संवर्द्धन योजनाओं को जारी रखे हुए है बल्कि उसने हाल के वर्षों में इनमें कुछ जोड़ा ही है। भारत ने अपने बचाव में कहा कि उसके पास निर्यात संवर्द्धन को चरणबद्ध तरीके से समाप्त करने के लिए आठ वर्ष का समय है, परंतु यह दलील विश्वसनीय इसलिए नहीं नजर आती है क्योंकि यह मूलरूप से उस वक्त लागू होनी थी जिस समय इन नियमों को पहली बार पेश किया गया था। जिन देशों की प्रति व्यक्ति आय लगातार तीन वर्षों से 1,000 डॉलर वार्षिक से अधिक है, उन पर यह वैसे भी लागू नहीं होता।

यह बात चकित करती है कि सरकार अब जाकर ऐसे विकल्प पर काम कर रही है जो डब्ल्यूटीओ के अनुरूप होगा। अगर बिना किसी उचित परीक्षण वाले विकल्प के इन योजनाओं को डब्ल्यूटीओ के दबाव में प्रचलन से बाहर करना पड़ा तो यह

काफी खेद की बात होगी। डब्ल्यूटीओ हमेशा से निर्यात सब्सिडी समाप्त कराने की फिराक में रहा है। भारत में सरकार चाहती तो अरसा पहले निर्यातकों को इनसे मुक्त कर सकती थी। परंतु उसने ऐसा नहीं किया और कर रियायत बरकरार रहने दी। निश्चित तौर पर अन्य विकल्प भी मौजूद हैं। एक विकल्प तो यह है कि शुल्क रिफंड की व्यवस्था को निर्यातकों के बजाय सबके लिए मान्य किया जा सकता है। परंतु ऐसे वक्त में जबकि सरकार राजकोषीय सुदृढ़ीकरण की राह पर बने रहने का प्रयास कर रही है, करदाताओं पर पडऩे वाला इसका बोझ बहुत बड़ी समस्या बन सकता है। दूसरा तरीका यह है कि निर्यातकों को प्रतिस्पर्धी बनने दिया जाए। खासतौर पर उच्च आयात शुल्क के मसले को हल करके ऐसा किया जा सकता है। आयात शुल्क उन क्षेत्रों की हिफाजत कर सकता है जो उन खास आयातों से प्रतिस्पर्धा कर रहे हों परंतु सरकार ने अपने संरक्षणवादी रुख के चलते बीते वर्ष के दौरान कई बार आयात शुल्क में इजाफा किया।

सरकार हमेशा से यह प्रयास करती रही है कि निर्यात बढ़ाया जाए और आयात में कमी की जाए। यह अर्थशास्त्र की दृष्टि से कभी सही नहीं रहा और अब तो यह भी साबित हो गया है कि यह देश के डब्ल्यूटीओ के समक्ष दायित्वों के भी अनुरूप नहीं है। निर्यातकों को विशेष कर और सब्सिडी पैकेज देना और आयात से संरक्षण प्रदान करना, सन 1970 के दशक की नीति है जिसे बढ़ावा दिया ही नहीं जाना चाहिए। इसके बजाय अब वक्त आ गया है कि देश के उलटे शुल्क ढांचे की दिक्कतों को दूर किया जाए। स्टील और इलेक्ट्रॉनिक्स क्षेत्रों को यह बताने के लिए काफी साहस की जरूरत है कि उन्हें बिना सरकार के खास समर्थन के प्रतिस्पर्धी क्षमता बढ़ानी होगी। बहरहाल, कमजोर रुपये, व्यापार सुविधा बढ़ाने पर जोर तथा लालफीताशाही में कमी के साथ यह देश के निर्यात के लिए बेहतर साबित हो सकता है।

जनसत्ता

Date: 23-08-18

दागियों पर लगाम

संपादकीय

राजनीति में अपराधियों का प्रवेश रोकने को लेकर देश की सर्वोच्च अदालत ने एक बार फिर चिंता जताई है। इस मामले से जुड़ी याचिकाओं पर सुनवाई के दौरान समय-समय पर शीर्ष अदालत ने सुझाव भी दिए हैं। लेकिन यह कवायद अब तक इसलिए रंग नहीं ला पाई है कि उसके पास कानून बनाने का अधिकार नहीं है। कानून संसद को बनाना है। मंगलवार को प्रधान न्यायाधीश के नेतृत्व वाले संविधान पीठ ने साफ कहा कि राजनीति में अपराधीकरण सड़ांध का रूप ले चुका है। शीर्ष अदालत की यह टिप्पणी हालात की गंभीरता बताने के लिए पर्याप्त है। अब अदालत ने साफ कहा है कि उसे इस बारे में चुनाव आयोग का सहारा लेना पड़ेगा। संविधान पीठ चुनाव आयोग को निर्देश देकर कह सकता है कि वह राजनीतिक दलों से अपने निर्वाचित सदस्यों का आपराधिक रिकार्ड उजागर करने को कहे। तभी मतदाताओं को पता चलेगा कि किस दल में कितने दागी जनप्रतिनिधि हैं जिन्हें उम्मीदवार नहीं होना चाहिए था। जाहिर है, इससे राजनीतिक दलों पर भी एक दबाव बनेगा।

चुनावी राजनीति में गंभीर आपराधिक पृष्ठभूमि वाले नेताओं का प्रवेश तभी रोका जा सकता है जब राजनीतिक दल खुद इसके लिए पहल करें। लेकिन हैरान करने वाली और दुखद बात यह है कि राजनीतिक दलों की ओर से अब तक ऐसा कोई भी प्रयास नहीं हुआ। किसी भी दल ने ऐसा साहस नहीं दिखाया जो अपराधियों को चुनावी राजनीति में आने से

रोकने की पहल करता हो, बल्कि ऐसा लगता है कि राजनीतिक दल खुद नहीं चाहते कि चुनावी राजनीति में अपराधियों को आने से रोका जाए। अगर कोई ऐसी बात उठती भी है या सुझाव आता है तो उसमें संवैधानिक-कानूनी नुक्ते निकाल कर उससे बचने के तरीके खोज लिए जाते हैं। यह एक ऐसा मुद्दा है जिस पर एक तरह से सारे दलों की भीतरी सांठगांठ नजर आती है। इसी का नतीजा है कि चुनावी राजनीति में हत्या, हत्या की कोशिश और बलात्कार जैसे गंभीर अपराधों तक में शामिल नेताओं का असर कायम है। ये लोग अपने धन-बल के बूते राजनीति में दबदबा रखते हैं। राजनीतिक दल सिर्फ यही दलील देते आए हैं कि जब तक कोई आरोपी दोषी करार नहीं दे दिया जाता, उसे अपराधी नहीं माना जा सकता।

दागदार नेता इसी का फायदा उठा रहे हैं, क्योंकि लंबी और जटिल कानूनी प्रक्रिया के चलते मुकदमों के निपटान में बरसों गुजर जाते हैं और आरोपी के लिए दोषी साबित नहीं होने तक चुनाव लड़ने और जीतने पर सदन में पहुंचने का रास्ता खुला रहता है। सन 2009 में तीस फीसद लोकसभा सदस्यों के खिलाफ आपराधिक मामले दर्ज थे। 2014 में यह आंकड़ा बढ़कर चौंतीस फीसद हो गया। अफसोस की बात यह है कि मौजूदा लोकसभा में तीन सांसद ऐसे हैं जिन पर महिलाओं के खिलाफ अपराध के मामले दर्ज हैं। सवाल है कि जिस लोकसभा में एक तिहाई सांसदों के खिलाफ आपराधिक मामले दर्ज हों और अपने दलों का उन्हें पूरा संरक्षण हासिल हो, तो ऐसे नेता और दल कैसे कठोर कानून बनने देंगे? यह भारतीय राजनीति की त्रासदी है कि उसमें शायद ही कोई ऐसा दल हो जो दागदार नेताओं से सुशोभित न हो रहा हो। अगर ऐसा कठोर कानून बन जाए जो आपराधिक मामले दर्ज होने वालों के लिए चुनाव लड़ने के रास्ते बंद कर सके, तो हमारी संसद और विधानसभाएं दागदार चेहरों से मुक्त हो सकती हैं। जाहिर है, ऐसा कानून संसद को ही बनाना है। हालांकि राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के चलते इस तरह के कानून के दुरुपयोग की आशंका बनी रहेगी। लेकिन सिर्फ इस वजह से राजनीति में आपराधिक पृष्ठभूमि के लोगों के लिए जगह बनाए रखने को सही नहीं कहा जा सकता।

Date: 23-08-18

राष्ट्रीय सहारा

राजनीतिक शुचिता की तरफ

सुरेन्द्र किशोर

इस साल मार्च में केंद्र सरकार ने सुप्रीम कोर्ट को बताया था कि देश के कुल 4896 सांसदों और विधायकों में से 1765 सांसदों-विधायकों के खिलाफ विभिन्न अदालतों में आपराधिक मुकदमे चल रहे हैं। यानी कुल 36 प्रतिशत जन प्रतिनिधियों पर मुकदमें चल रहे हैं। सन 2004 में ऐसे सांसदों-विधायकों की संख्या कुल संख्या की 14 प्रतिशत थी। वह बढ़कर अब 36 प्रतिशत हो चुकी है। सुप्रीम कोर्ट ने इसे सड़ांध की संज्ञा दी है। राजनीति के अपराधीकरण की इस तेज रफ्तार को देखते हुए सुप्रीम कोर्ट ने 21 अगस्त, 2018 को एक खास बात कही। अदालत ने कहा कि आपराधिक पृष्ठभूमि के उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने से रोकने के लिए कानून बनाने के लिए यह अदालत संसद को नहीं कह सकती। पर हम चुनाव आयोग को यह निर्देश तो दे ही सकते हैं कि अपराधियों को टिकट देने वाले दलों के चुनाव चिह्न

वह छीन ले। चुनाव आयोग खुद फार्म-6 ए में यह अतिरिक्त प्रावधान कर सकता है कि यदि पार्टी आपराधिक पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति को चुनाव मैदान में उतारेगी तो उसे पार्टी का चुनाव चिह्न नहीं दिया जाएगा।

हालांकि एटार्नी जनरल के.के.वेणुगोपाल ने अदालत से कहा, "यह काम संसद का है, कोर्ट का नहीं। अंतिम तौर पर सजायाफ्ता होने से पहले किसी व्यक्ति को चुनाव लड़ने से नहीं रोका जा सकता है। यदि रोका जाएगा तो वह असंवैधानिक होगा।' पर सन 2002 का एक उदाहरण इसके विपरीत है। दरअसल, वेणुगोपाल ने अदालत से यह भी कह दिया कि यदि मुकदमों के कारण किसी को चुनाव लड़ने से रोक देने का प्रावधान हो जाएगा तो संभावित उम्मीदवारों के खिलाफ उनके राजनीतिक विरोधी जाली मुकदमे करवा देंगे। फिर भी संकेत यह है कि सुप्रीम कोर्ट देर-सवेर ऐसा कोई उपाय कर सकता है ताकि जघन्य अपराधों के आरोपित चुनाव नहीं लड़ सकें। करीब डेढ़ दशक पहले ऐसे ही एक मामले में केंद्र सरकार और अधिकतर दलों के विरोध के बावजूद सुप्रीम कोर्ट आदेश देकर चुनाव आयोग से एक अच्छा काम करवा चुका है। उम्मीदवारों के लिए शैक्षणिक योग्यता, आपराधिक मुकदमे और संपत्ति का विवरण देना जरूरी तभी हो सका, जब सुप्रीम कोर्ट ने 2 मई,2002 को ऐसा करने के लिए चुनाव आयोग को निर्देश दिया। उससे पहले तत्कालीन केंद्र सरकार इसके लिए तैयार ही नहीं थी। सुप्रीम कोर्ट के इस निर्णय को बेअसर करने के लिए तब की वाजपेयी सरकार ने राष्ट्रपति से एक अध्यादेश जारी करवा दिया।

बाद में उसे संसद से पास भी करवा कर कानून का भी दर्जा दिलवा दिया गया। लगभग सभी राजनीतिक दल इस मामलें में सरकार के साथ थे। पर सुप्रीम कोर्ट ने उस कानून को ही रद्द कर दिया। उसके बाद ही वे सूचनाएं उम्मीदवार देने को बाध्य हो गये। अब भी दे रहे हैं। अब जिस देश के अधिकतर राजनीतिक दल व नेतागण अपने बारे में ऐसी निदरेष सूचनाएं भी सार्वजनिक करने को तैयार नहीं थे, वे आपराधिक पृष्ठभूमि वाले अपने दलीय साथियों को चुनाव लड़ने से रोकने के लिए खुद कोई कानून बनाने को तैयार हो जाएंगे, ऐसा लगता नहीं है। लोकतंत्र के लिए गंभीर चिंता की बात यह भी है कि मुख्य धारा के किसी राजनीतिक दल को ऐसे उम्मीदवारों से कोई परहेज ही नहीं है। वे इसे "व्यावहारिक राजनीति' का तकाजा बताते रहे हैं। कोई नेता कहता है कि जब तक किसी को सुप्रीम कोर्ट से सजा न हो जाए, तब तक उसे अपराधी नहीं माना जा सकता। दूसरा दल कहता है कि हम बाघ के खिलाफ बकरी को तो चुनाव में खड़ा नहीं कर सकते। इसलिए जब तक दूसरे दल बाहुबलियों को टिकट देते जाएंगे,तब तक हम भी देते रहेंगे। इस तरह विधायिकाओं में आपराधिक पृष्ठभूमि वाले प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ती जा रही है। लोकतांत्रिक संस्थाओं का स्वरूप बदलता जा रहा है। इसका प्रतिकूल असर आम प्रशासन पर भी पड़ रहा है। इस पृष्ठभूमि में रिटायर अफसर और जनसेवा की मंशा वाले व्यक्ति जनहित याचिकाएं दायर करते रहे हैं और अदालत निर्देश देती रही है। लोकतंत्र की मौजूदा स्थिति को देख कर आम लोग चिंतित हैं। पिछले वर्षो यह प्रावधान जरूर हुआ कि निचली अदालत से दो साल से अधिक की सजा होने के साथ ही सदन की सदस्यता चली जाएगी। वह सजा पूरी होने के छह साल के बाद ही चुनाव लड़ पाएगा।

पर एक लोकहित याचिका इस संबंध में दायर की गयी है। उसके जरिए अदालत से यह आग्रह किया गया है कि वह आदेश दे कि छह साल की सीमा को भी समाप्त कर दिया जाए; क्योंकि यदि किसी सरकारी सेवक को सजा हो जाती है तो वह छह साल के बाद नौकरी में वापस तो नहीं आ जाता! दरअसल, देश के अधिकांश हिस्से में कानून-व्यवस्था के ढीला पड़ते जाने के कारण भी जहां-तहां ताकत के समानांतर केंद्र बनते जा रहे हैं। बिहार के एक खास इलाके में कुछ दशक पहले नक्सलियों ने अपनी गतिविधियां शुरू कीं। नक्सलियों ने खेत-मजदूरों के शोषण का सवाल उठाया। खेत-मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए सरकार का श्रम विभाग कार्यरत है पर वह उनके काम नहीं आया। उधर, भूमिपतियों

और नक्सलियों के बीच मारकाट शुरू हो गयी। भूमिपतियों के बचाव में पुलिस की जगह इलाके का एक बाहुबली सामने आया। उसने अपनी निजी सेना बनाई। उसने नक्सलियों से भूमिपतियों की भरसक रक्षा की।

दोतरफा मारकाट हुआ। शासन-पुलिस मूक दर्शक बना रहा। परंपरागत राजनीतिक दल उस इलाके में प्रभावहीन होते गए। बाहुबली भूमिपतियों में लोकप्रिय हुआ। उनके वोट से पहले वह निर्दलीय विधायक बना। फिर उसे सत्ताधारी दल का टिकट मिल गया। वह लोक सभा पहुंच गया। लगातार जीतता गया। अंतत: उसे अदालत से सजा हो गयी। फिर भी क्षेत्र पर उसका प्रभाव बना। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। सामान्यत: कमजोर वर्ग को तो कहीं से भी न्याय नहीं मिलता। इस स्थिति में पक्ष-विपक्ष के लोगों को परस्पर-विरोधी गिरोहों के नेता गण आंशिक या एकतरफा न्याय तो दे ही पाते हैं। ना से हां सही। इस तरह वे गिरोहाधिपति वोट के सौदागर बन बैठते हैं। चाहे वे खुद लड़ें या अपने किसी परिजन को उम्मीदवार बनाएं। जमीन से कटे अधिकतर राजनीतिक दलों व नेताओं के लिए यह सुविधाजनक होता है कि ऐसे किसी गिरोहाधिपति को ही टिकट थमा दे। ऐसी स्थिति में कोई दल आपराधिक पृष्ठभूमि वालों को टिकट से वंचित करेगा भी तो क्यों? विकास,कानून का राज और सुशासन के बिना अपराधी नेताओं को जनता से अलग-थलग नहीं किया जा सकता।

Date: 23-08-18

खत्म हो दाग

संपादकीय

सर्वोच्च न्यायालय लंबे समय से राजनीति को अपराधियों और भ्रष्टाचारियों से मुक्त करने की दिशा में सक्रिय है। दो अलग-अलग याचिकाओं पर विचार करते हुए उसने अभी जो आदेश दिया है और भविष्य में कुछ आदेश देने का संकेत दिया है, उनको इन्हीं दिशाओं में आगे बढ़ने का कदम माना जाएगा। अपने आदेश में न्यायालय ने केंद्र सरकार से दागी नेताओं से संबंधित मुकदमों की सुनवाई के लिए गठित विशेष न्यायालयों का विस्तृत ब्योरा पेश करने को कहा है। सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले वर्ष 14 दिसम्बर को राजनीतिक व्यक्तियों की संलिप्तता वाले मुकदमों की सुनवाई के लिए 12 विशेष न्यायालय गठित करने और इनमें एक मार्च से कामकाज सुनिश्चित करने का निर्देश केंद्र को दिया था। इस पर क्या कार्रवाई की गई इसकी जानकारी देश को नहीं है। हालांकि स्वयं प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने कहा था कि जिन नेताओं पर मुकदमे चल रहे हैं, उनका नियत समय में निपटारा हो जाए इसके लिए वह सर्वोच्च न्यायालय से विशेष न्यायालय गठित करने की अपील करेंगे।

अब सरकार को यह बताना होगा कि कितने न्यायालय गठित हुए, कितने मुकदमे उनमें स्थानांतरित हुए और उन मुकदमों की स्थिति क्या है? तो केंद्र के जवाब की प्रतीक्षा करनी होगी। इसी तरह, एक अलग याचिका पर सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि वह चुनाव आयोग से कह सकता है कि नेता अपने ऊपर दर्ज मामले का खुलासा करें और उसे सार्वजनिक कर दिया जाए ताकि मतदाताओं को पता चल सके कि किस पार्टी में कितने लोग आरोपित हैं? जैसा हम जानते हैं, चुनाव आयोग ने एक शपथपत्र की व्यवस्था पहले से की हुई है, जिसमें उम्मीदवार अपने ऊपर कायम मुकदमों और उनकी स्थितियों का विवरण देते हैं। जाहिर है, याचिका उसके बाद के कदम के लिए है। यानी अब पार्टियों के सभी

नेताओं को अपने ऊपर चल रहे मुकदमों का विवरण देना पड़ सकता है ताकि लोग सच्चाई जानकर उन पार्टियों के बारे में मत बना सकें। पार्टियों में सभी नेता तो चुनाव लड़ते नहीं, लेकिन राजनीति में उनकी भूमिका रहती है, इसलिए ऐसे विवरणों की आवश्यकता है। सर्वोच्च न्यायालय चुनाव आयोग को यह आदेश देने पर भी विचार कर रही है कि वह राजनीतिक दलों को निर्देश दे कि वे गंभीर आपराधिक आरोपों का सामना करने वालों को न तो टिकट दें और न ही ऐसे निर्दलीय उम्मीदवारों से समर्थन लें। अगर ऐसा हुआ तो इसका प्रभाव राजनीति पर निस्संदेह पड़ेगा।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 23-08-18

हमें लगातार पिछड़ने को मजबूर कर रही है बाढ़

पंकज चतुर्वेदी, वरिष्ठ पत्रकार

अजीब विडंबना है। आंकड़े बता रहे हैं कि अब तक देश के बड़े हिस्से में मानसून नाकाफी रहा है, लेकिन जहां जितना भी बरसा, उसने तबाही का दायरा बढ़ा दिया है। केरल की बाढ़ इस भयावहता का ताजा बयान है। पिछले कुछ वर्षों में बारिश भले कम हुई हो, बाढ़ से तबाह हुए इलाके कई गुना बढ़े हैं। कुछ दशक पहले जो इलाके बाढ़ मुक्त क्षेत्र माने जाते थे, अब वहां भी नदियां उफनने लगी हैं। असल में बाढ़ महज एक प्राकृतिक आपदा नहीं, देश के गंभीर पर्यावरणीय, सामाजिक और आर्थिक संकट का कारक बन चुकी है। हमारे पास बाढ़ से निपटने को महज राहत कार्य या यदा-कदा कुछ बांध या जलाशय निर्माण के विकल्प हैं, जबकि बाढ़ के विकराल होने के पीछे नदियों का उथला होना, जलवायु परिवर्तन, बढ़ती गरमी, रेत की खुदाई व शहरी प्लास्टिक व खुदाई मलवे का नदी में बढ़ना, जमीन का कटाव जैसे कई कारण दिनों-दिन गंभीर होते जा रहे हैं।

सरकारी आंकड़े ही गवाह हैं कि भारत में बाढ़ प्रभावित क्षेत्रों की माप किस तरह बढ़ती गई है। 1951 में यह महज एक करोड़ हेक्टेयर थी, जो 1960 तक बढ़कर ढाई करोड़ हेक्टेयर हो गई। 1978 में यह दायरा 3.4 हेक्टेयर पहुंचा और आज देश के कुल 329 मिलियन (दस लाख) हेक्टेयर में से चार करोड़ हेक्टेयर इलाका नियमित रूप से बाढ़ की चपेट में हर साल बर्बाद होता है। इसी तरह बाढ़ से नुकसान भी तेजी से बढ़ता गया है। यह महज एक बानगी है कि वर्ष 1995-2005 के दशक में बाढ़ से 1,805 करोड़ के नुकसान का सरकारी आकलन था, जो अगले दशक यानी 2005-2015 में बढ़कर 4,745 करोड़ रुपये हो गया। यह बताता है कि बाढ़ किस निर्ममता से हमारी अर्थव्यवस्था को चट कर रही है।

बिहार का 73 प्रतिशत हिस्सा आधे साल बाढ़ और शेष दिन सुखाड़ का दंश झेलता है और यही वहां के पिछड़ेपन, पलायन और परेशानियों का कारण है। इसका लगभग 40 प्रतिशत हिस्सा नदियों के रौद्र रूप से पस्त रहता है। असम में इन दिनों 18 जिलों के कोई साढ़े सात लाख लोग बाढ़ के कारण घर-गांव से पलायन कर गए हैं और यह उनकी सालाना नियति है। देश को सर्वाधिक सांसद और प्रधानमंत्री देने वाले राज्य उत्तर प्रदेश की नियति भी हर बाढ़ में कुछ ऐसी ही होती है।

बाढ़ की यह गति हमारे राज्यों को किस तरह साल-दर-साल पिछड़ने पर मजबूर कर देती है, सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है। केंद्र हो या राज्य, सरकारों का ध्यान बाढ़ के बाद राहत कार्यों व मुआवजे पर ही रहता है। शायद यही कारण

रहा कि आजादी के 70 साल बाद भी हम बाढ़ नियंत्रण की कोई मुकम्मल योजना नहीं दे पाए। केरल की बाढ़ ने वहां जिस तरह सौ साल का रिकॉर्ड तोड़ा है और अपनी हरियाली और खूबसूरती के लिए हमेशा गुलजार रहने वाला यह राज्य जैसी प्राकृतिक आपदा झेल रहा है, उसने नए सवाल खड़े किए हैं। इसने उन नीति-नियंताओं पर सवाल खड़े किए हैं, जो साल-दर-साल बाढ़ को मुआवजे और राहत के तराजू पर तो तोलते रहे, कोई कारगर और स्थाई योजना नहीं दे सके।

केरल की अप्रत्याशित बाढ़ ने जिस तरह इसकी अर्थव्यवस्था को कई साल पीछे धकेल दिया है, वह तमाम नए सवालों से टकराने की वजह देती है। मौजूदा हालात में बाढ़ महज एक प्राकृतिक आपदा नहीं, बल्कि मानवजन्य साधनों से उपजी त्रासदी भी है। अतएव बाढ़ के बढ़ते सुरसा-मुख पर अंकुश लगाने के लिए शीघ्र कुछ करना होगा। कुछ लोग नदियों को जोड़ने में इसका निराकरण खोज रहे हैं। हकीकत में नदियों के प्राकृतिक बहाव, तरीकों, विभिन्न नदियों के ऊंचाई-स्तर में अंतर जैसे विषयों का हमारे यहां कभी निष्पक्ष अध्ययन ही नहीं किया गया और इसी का फायदा उठाकर कतिपय ठेकेदार, कारोबारी और जमीन-लोलुप लोग इस तरह की सलाह देते हैं। पानी को स्थानीय स्तर पर रोकना, नदियों को उथला होने से बचाना, बड़े बांध पर पाबंदी, नदियों के करीबी पहाड़ों पर खुदाई पर रोक और नदियों के प्राकृतिक मार्ग से छेड़छाड़ को रोकना कुछ ऐसे सामान्य प्रयोग हैं, जो बाढ़ सरीखी भीषण विभीषिका का मुंह-तोड़ जवाब हो सकते हैं।

Date: 23-08-18

संदेश के सिरे

संपादकीय

केंद्र सरकार ने वाट्सएप को सीधा संदेश दे दिया है। सोशल मीडिया कारोबार की धुरंधर फेसबुक के मातहत चलने वाली इस कंपनी को बता दिया गया है कि उसे भारतीय कानूनों के तहत चलना होगा। संदेश सेवा चलाने वाली इस कंपनी से कहा गया है कि वह भारत में अपनी एक इकाई खोले और यहां शिकायत प्रकोष्ठ भी बनाए। कैलिफोर्निया की इस कंपनी के सीईओ क्रिस डेनियल इन दिनों भारत आए हुए हैं और उन्हें यह बात खुद सूचना तकनीक मंत्री रविशंकर प्रसाद ने साफ तौर पर बता दी है।

पिछले दिनों यह पाया गया था कि देश में भीड़-हत्या के कई मामलों में अफवाह फैलाने के लिए वाट्सएप का इस्तेमाल हुआ है। इससे पहले इसके द्वारा तनाव फैलाने की कई खबरें भी आई थीं। इसी के बाद देश में इंटरनेट सेवा देने वाली कंपनियों से आपातकालिक स्थितियों में सोशल मीडिया पर अस्थाई और तात्कालिक पाबंदी लगाने के विकल्पों पर राय भी मांगी गई थी। वाट्सएप ने भी अपनी तरफ से कुछ कदम उठाने की घोषणा की थी, जिसके तहत अगर किसी संदेश, तस्वीर या वीडियो को फॉरवर्ड किया जाता है, तो उसके ऊपर फॉरवर्ड लिखा होगा, जिससे यह पता चल सके कि यह भेजने वाले का मूल संदेश नहीं है और उसने इसे कहीं से प्राप्त किया है। लेकिन ऐसा नहीं माना जा सकता कि इस उपाय से अफवाहों का फैलना रुक जाएगा। दूसरे, बहुत आसानी से इसकी काट निकाली जा सकती है। सबसे बड़ी बात यह है कि जो समस्या है, उसका समाधान इसमें कहीं नहीं है।

ऐसे मौकों पर जांच एजेंसियां हमेशा यह जानने की कोशिश करती हैं कि कोई अफवाह कहां से शुरू हुई थी? वाट्सएप जांच एजेंसियों को इसका कोई सूत्र नहीं देती। कंपनी का कहना है कि वह आजकल लोगों की निजता का ख्याल रखते हुए सारे संदेशों को एनक्रिप्टेड कर देती है या यूं कहें कि ऐसी कूटभाषा में बदल देती है, जिससे संदेश भेजने और देखने वाले ही उसे मूल रूप में प्राप्त कर पाते हैं, बीच में उसे कोई देख-समझ नहीं सकता। यानी खुद वाट्सएप भी नहीं जान पाती कि कौन से संदेश में क्या है और वह कहां से आकर कहां गया? हालांकि ये संदेश कितने एनक्रिप्टेड होते हैं, यह अभी बहुत साफ नहीं है, लेकिन भारत सरकार का आग्रह है कि वह ऐसा तरीका बनाए, जिससे किसी संदेश का मूल स्रोत पता लगाया जा सके। वाट्सएप ने अभी कोई वादा नहीं किया है, लेकिन समस्या का समाधान ढूंढ़ने का आश्वासन जरूर दिया है। वाट्सएप अमेरिकी सरजमीं से चलने वाली कंपनी है, मगर भारत सरकार के आग्रह पर ध्यान देना उसकी मजबूरी है। भारत में उसके 20 करोड़ से ज्यादा उपयोगकर्ता हैं और इतने बडे बाजार को कोई भी कंपनी नहीं खोना चाहेगी।

यह समस्या मूल रूप से भारत से जुड़ी नहीं है, ऐसी शिकायतें दुनिया के कई देशों से समय-समय पर मिलती रही हैं। नवंबर 2015 में पेरिस में हुए आतंकवादी हमले की जांच से पता लगा था कि आतंकवादियों ने इसके लिए वाट्सएप का इस्तेमाल किया था। जाहिर है, यह समस्या विश्व-व्यापी है, इसलिए इसके अंतरराष्ट्रीय समाधान का दबाव बनाया जाना चाहिए। अच्छा यह होगा कि सोशल मीडिया के लिए वैश्विक स्तर पर किसी प्रोटोकॉल की बात की जाए। राष्ट्रीय स्तर पर समाधान ढूंढ़ने की कोशिश हो सकता है कि हमें ज्यादा दूर तक न ले जाए। भारत चीन नहीं हो सकता, जहां ज्यादातर वैश्विक सोशल मीडिया पर पाबंदी है।

Date: 23-08-18

और बेहतर प्रदर्शन की दरकार

महावीर फोगाट, प्रसिद्ध पहलवान

दक्षिण कोरिया में आयोजित 2014 के एशियाई खेलों में भारत ने 11 स्वर्ण सहित कुल 57 पदक जीते थे। इस बार इन पंक्तियों के लिखे जाने तक हमारे खाते में 11 पदक आ चुके हैं, जिनमें चार स्वर्ण हैं। इन चार तमगों में से दो हमने कुश्ती में कमाए। इसे देखकर कोई भी यह कह सकता है कि जब 2014 में योगेश्वर दत्त के रूप में हमें सिर्फ एक सोना मिला था, तब इस बार कुश्ती में हम बेहतर खेल रहे हैं। लड़कियां और लड़के बराबर की टक्कर दे रहे हैं। मगर मैं इस तर्क से सहमत नहीं हूं। मेरा मानना है कि हमारे खिलाड़ी इससे कहीं बेहतर खेल दिखा सकते थे। जकार्ता से हम इससे ज्यादा सोना और अन्य पदक ला सकते थे।

अपनी बातों को स्पष्ट करने के लिए मैं एक उदाहरण देना जरूरी समझता हूं। हमारे देश में कुश्ती के एक बड़े खिलाड़ी हैं, जिन्होंने दो ओलंपिक खेलों में दो पदक जीते हैं। 2008 ओलंपिक में कांस्य और 2012 में रजत। मगर जकार्ता एशियाई खेलों से वह टूर्नामेंट से ही बाहर हो गए। अब, जो खिलाड़ी ओलंपिक पदक जीत चुका हो, वह यदि एशियाई खेलों से इस तरह बिना पदक लिए वापस आ जाए, तो निराशा स्वाभाविक ही है। उसे तो सोना जीतना चाहिए था। साफ है, कहीं न कहीं कुछ लापरवाही बरती गई है।

अब तो यह तर्क भी नहीं चल सकता कि खिलाड़ियों को पर्याप्त सुविधाएं नहीं मिल रही हैं या सरकार उनकी अनदेखी कर रही है। आज केंद्र सरकार हो या राज्यों की सरकारें, सभी खिलाड़ियों का पूरा ध्यान रख रही हैं। खिलाड़ियों को खुद का ध्यान रखना है। जरूरत बस इस बात की है कि खिलाड़ी लगातार मेहनत से अपनी तैयारी करें। दुर्भाग्यवश इसी में हम पीछे हो जाते हैं। अमेरिका, रूस, जापान, चीन, ईरान या फ्रांस जैसे देशों के रेसलर हम पर आखिर भारी क्यों पड़ते हैं? आज कुश्ती में जिस तरह से तकनीक का दखल बढ़ा है, उसे देखकर तो यह कोई नहीं कह सकता कि सामने वाले खिलाड़ी की शैली से वह अनजान था। अब तो सारी रणनीति पहले ही बना ली जाती है। मगर मुश्किल यह है कि हमारे खिलाड़ी तभी जागते हैं, जब प्रतियोगिता सिर पर आ जाती है। पूरे साल तो छोड़िए, छह महीने भी वे जमकर पसीना नहीं बहाते। अनुशासन में रहना तो दूर की बात है। अब इस स्थिति में हमें पदक भला कैसे मिल सकता है?

खिलाड़ियों की अपनी मानसिकता भी उनके विकास में बड़ी बाधक है। उनकी सोच ओलंपिक में सोना जीतने की शायद ही होती है। वे चाहते हैं कि बस 'बाहर' से कोई मेडल ले आएं, ताकि उन्हें नौकरी वगैरह मिल सके। इसीलिए उनकी नजर अपेक्षाकृत छोटे मुकाबलों पर ज्यादा रहती है। बड़ी दिक्कत यह भी होती है कि अगर किसी खिलाड़ी को इंटरनेशनल पदक मिल गया, तो वह खुद को ही कोच समझने लगता है। पाबंदी उसके लिए मायने नहीं रखती। यह स्थिति बदलनी चाहिए।

कोच को भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। उसे तो यह उद्देश्य लेकर ही आगे बढ़ना होगा कि अपने खिलाड़ियों से वह देश को ओलंपिक का स्वर्ण दिलवाएगा। कोच को खिलाड़ियों को जगाना होगा। यही बात प्रायोजकों पर भी लागू होती है। उन्हें खिलाड़ियों पर हर मुमकिन दबाव बनाना चाहिए। जब पैसा वह दे रहा है, तो खिलाड़ियों से बेहतर नतीजे हासिल करवाने के लिए भी उसे अपनी तरफ से प्रयास करने चाहिए। अब प्रशिक्षण की कोई कमी नहीं होती। खिलाड़ियों को पूरी सुख-सुविधाएं भी मिलती हैं, तो फिर उनसे सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन और पदक की उम्मीद भला क्यों नहीं पाली जाए?

अपने समय से यदि आज की तुलना करूं, तो स्थिति काफी बदली हुई दिखती है। मानो जमीन-आसमान का फर्क आ गया हो। हमारे दौर में न तो तकनीक का इतना बोलबाला था, न हमारे पास मैट थे। इतनी प्रतियोगिता भी तब नहीं हुआ करती थी, जाहिर तौर पर सरकार की तरफ से मदद भी नाममात्र की मिलती थी। अब ऐसा नहीं है। सरकारें खेल पर दिल खोलकर खर्च करती हैं। आज न सिर्फ खेलों में बदलाव आया है, बल्कि कायदे-कानून भी काफी बदले हैं। मगर सच यही है कि मेहनत करने वालों की कभी हार नहीं होती। मैट पर पसीना बहाने वालों को कोई रोक नहीं सकता। मगर हम तो हर टूर्नामेंट के बाद एक-दूसरे को दोष देने में व्यस्त रहते हैं।

कुश्ती की बात करूं, तो यह ताकत का खेल है। जाहिर है, इसके लिए मेहनत ज्यादा करने की जरूरत होती है, इसीलिए हमारी डाइट (खान-पान) भी 'हैवी' होती है। इससे वजन स्वाभाविक तौर पर बढ़ जाता है। मगर अब हमारे खिलाड़ी प्रतियोगिता से ऐन पहले वजन कम करने में जुट जाते हैं। इससे उनका वजन बेशक कम हो जाता है, पर उनकी ताकत भी घट जाती है। यह तरीका गलत है। फिर आज के खिलाड़ियों के लिए अच्छी बात यह भी है कि उनके पास अपनी कमजोरी आंकने के ढेरों अवसर उपलब्ध हैं। कोई न कोई प्रतियोगिता चलती ही रहती है, जिसमें भाग लेकर कोई भी खिलाड़ी अपनी क्षमता परख सकता है। अपनी 'टेक्नीक' जान सकता है। मगर वे ऐसा करें, तब तो! सच है कि वे किसी समग्र सोच के साथ आगे बढ़ना ही नहीं चाहते।

यही वह कारण है कि मैं खिलाड़ियों को ज्यादा दोषी मानता हूं। देर अब भी नहीं हुई है। हालात सुधारे जा सकते हैं। दो साल बाद ओलंपिक का मुकाबला है। अगर हम ठान लें कि इस बार गोल्ड लेकर ही आएंगे और उसी के मुताबिक अभी

से मेहनत करने में जुट जाएं, तो फिर भला हमें कौन हरा सकता है? भारत की मिट्टी में बहुत ताकत है। इसमें असीम ऊर्जा है। खिलाड़ी इस मिट्टी को पहचानें और जमकर पसीना बहाएं। उनकी यही मेहनत हमें ओलंपिक में स्वर्ण दिला सकती है और कुश्ती का सिरमौर बना सकती है।

Date: 23-08-18

THE HINDU

In search of greatness

Scientific achievement will only happen in a culture which celebrates great art, philosophy, sports

Sundar Sarukkai, (Sundar Sarukkai is a philosopher based in Bengaluru.)

The Fields Medal, popularly seen as the equivalent of a Nobel Prize, is awarded once in four years to two-four mathematicians below the age of 40. In its long history, no woman had won this medal until 2014 when an Iranian, Maryam Mirzakhani, won it for the first time. No Indian has yet won it although it was also in 2014 that for the first time an Indian-origin Canadian-American mathematician, Manjul Bhargava, was awarded. In the recently announced prize for 2018, an Australian mathematician, Akshay Venkatesh, was awarded. He too happens to be of Indian origin.

Unpleasant questions

Some Indians might take pride in the ancestry of these latter two winners, but has the country contributed anything to their growth as mathematicians? Would Prof. Bhargava and Prof. Venkatesh have produced the work that won these prizes if they had studied and worked in India? This is not a pleasant question to ask, but parents are increasingly confronting similar questions when it comes to their children's education.

This problem is not unique to mathematics. It is the same case with respect to the Nobel Prizes in science. Indian-origin scientists have won the Nobel in physics, chemistry and medicine, but post-Independence, work done in India has not led to a science Nobel. What really is the problem? If Indians studying and working abroad can have a great impact, then obviously the problem has to do with our systems of education and research. While it is true that being abroad brings greater visibility to one's work, it is also the case that for a country which claims to have the third largest scientific manpower in the world, our creative contribution to science has been way below par.

This is a paradox considering the many brilliant scientists who work in Indian institutions, including the universities. Would these individuals have contributed more if they had worked outside the country? In

contrast, we can look at other fields in which we have produced world beaters. Chess and badminton are paradigmatic examples of how a whole generation of youngsters not only took to these sports, but under intense, and many time brutal, competition succeeded in coming to the top. These are not isolated cases; there is a systematic creation of groups of individuals who are reaching the pinnacle in these sports.

Similarly, we have global leaders in music, arts and literature. How is it that we have managed to be so original, creative and productive in the global domain in fields which have had very little support either from the government or the corporate sector? How is it that having invested all our energy in science education right from early schooling, we have only managed to produce collective mediocrity in these fields year after year?

Reasons for mediocrity

The revolution in chess and badminton was possible through great personal sacrifices of the players and their families. In many cases, securing even minimal funds from government or the private sector was difficult and the perseverance of parents, as well as the hard work of the children and the coaches, made this revolution possible. In contrast, the training for science begins from a state-sponsored and socially sanctioned education system right from primary school. At every step there are numerous scholarships, cash awards and incentives given to students to excel in these subjects. Although achieving greatness in science is not like that in sports or music, it is nevertheless important to understand why our contribution in science does not match this enormous cultural capital (in addition to significant funding) invested in science. I believe that there are three reasons that contribute to this culture of mediocrity. First is the nature of school education, second is the state of science administration, and third is our cultural response to the idea of excellence.

While all over the world, children are becoming more independent in terms of their intellectual practices, our students are becoming more and more like little soldiers marching from one class to another tuition. Right from their homes to their schools, it is one indoctrination after another. Science education is not egalitarian and is designed to keep people out rather than embrace diversity and multiplicity of background, language and talents. This is done in the name of merit, and yet it is precisely this merit that we lack on the global stage.

Science administration in India does not help. Given the amount of support from successive governments, it is remarkable that very little has changed in the excessive power invested in individuals in Indian science. Funding agencies like the Department of Science and Technology and a host of others which disburse hundreds of crores of rupees for research in science are not held accountable to the results of that funding. So many projects worth crores end up with some minor publications. Worse, scientists know best how personal contacts and networks are still so important in securing funds and other incentives in science in India today.

Perhaps not so surprisingly, the school system as well as science administration are both linked together by a common problem: the inability to understand and deal with excellence. In academic institutions across the country, it is far more difficult for a person to stand out in terms of high quality work since the system has little support for excellence. Part of the reason is that we do not have confidence in our own judgment of quality. Is it that we are embarrassed about greatness and much prefer to deal with mediocrity and ordinariness? As an institutional culture, is it that we prefer to discover greatness ‘outside’ rather than acknowledge it amongst ourselves?

Nothing in isolation

Finally, we have not understood another important aspect of greatness. Great work in any domain is not produced in isolation. Greatness is deeply cultural and arises from a particular attitude and not subject competence alone. For great work to be possible in science, the larger society has to produce great work in art, literature, humanities and so on. But we have produced a science ecosystem which does not seem to understand this, nor recognise how this insularity has only contributed to mediocre science.

Our education system has reduced the notions of competence and merit only to that of science, thereby denying the greatness inherent in so many other domains. Children who could have excelled in so many other disciplines and activities end up being forced to do science or being in education systems which put very little premium on other disciplines. At the same time, countless artists and musicians struggle to survive in spite of creating great work. There is no monthly salary, provident fund and pension for some of the greatest artists, performers, writers and others, yet they continue to produce work of greater quality than the average academic institutions in India.

Great science will only arise in a culture which celebrates great music, art, literature, philosophy, sports and so on. As long as this myopic vision of science, the hegemony of science education and the unprofessional cult of Indian science administration continue, we are not going to win Fields medal or Nobel prizes in science any time soon.

Date: 23-08-18

Questioning Muslims' loyalty

On two films, past and present, and the Indian Muslims' loyalty

Mohammed Ayoob, (The writer is University Distinguished Professor Emeritus of International Relations, Michigan State University)

Reviews of the recently released film, Mulk, remind me of the 1974 classic, Garam Hava, in which the late Balraj Sahni excelled himself in the role of Salim Mirza. Both films deal with the question of the loyalty of Indian Muslims and their place in the country.

Garam Hava, which was set in Agra in the immediate aftermath of Partition, focussed on the forced eviction of Salim Mirza from his ancestral home as a consequence of his brother's migration to Pakistan. Mulk is set in present day Varanasi. Murad (actor Rishi Kapoor) is victimised and his loyalty questioned because one of his nephews becomes a terrorist. The larger question that both films raise is the same: Can Indian Muslims ever be loyal to the country or must they face mistrust and hostility merely because of their religion? The knee-jerk answer to this is that terrorism has no religion and acts of individuals should not tarnish the image of an entire community. But this is not enough. Here are three irrefutable parts of evidence that show that the loyalty of Indian Muslims should be beyond doubt.

The first is Brigadier Mohammad Usman of the Dogra Regiment, the highest-ranking officer killed in the India-Pakistan War of 1947-48 at the age of 35. He was posthumously awarded the Maha Vir Chakra, the

second highest award for bravery. Less known is the fact that during Partition, repeated attempts were made by Muslim League leaders — and according to some reports by Jinnah himself — to persuade him to choose Pakistan with the prospect of being appointed the first Chief of the Army Staff (CoAS). He refused because of his commitment to a secular India. Had this brilliant officer lived, he may have become India's first Muslim CoAS.

The second is of Havildar Abdul Hamid of the Grenadier Regiment. Single-handedly, with his recoilless gun, he put out of action six Pakistani tanks in the battle of Khem Karan, arguably the most decisive encounter of the 1965 India-Pakistan war. He was killed while attempting to destroy the seventh. Abdul Hamid was posthumously awarded the Param Vir Chakra, India's highest military honour. He was 32.

The third is of Captain Haneefuddin of the Rajputana Rifles who was killed while leading a unit at a height of 18,500 ft during the Kargil conflict in 1999 while trying to evict the enemy from a strategic position. He was 25. He was posthumously awarded the Vir Chakra, India's third highest military honour, and the area where he died was renamed Sub-sector Haneef.

These are the three most celebrated Muslim martyrs who died fighting Pakistan. They answered with their blood the question that Garam Hava and Mulk raise. I am certain there are many more such martyrs who are not so well-known. Their numbers would be much greater if Muslims, now barely 3% of the armed forces head count according to unofficial figures, were represented in the armed forces in proportion to their population.

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 23-08-18

People police

India's police has largely retained a repressive colonial character. It must introduce strategies of community policing

O P Singh, (The writer is Additional DGP, Haryana, and is special officer for community policing and outreach at the office of the Chief Minister of Haryana)

In the 1960s, India and the US faced a similar law and order situation — escalating crime and street violence. The two countries responded differently with different results. A criminal justice system can hope to succeed in delivering peace and order only in a "majority defenders of law" situation, that is, most of the citizens obey the law voluntarily. And it is the responsibility of the police to facilitate the achievement of this objective.

Robert Peel, the father of modern policing, had this insight when he founded the London Metropolitan Police in 1829. Calling the police "citizens in uniform", he urged them to work in close collaboration with the community and focus on crime prevention. This remains a go-to strategy as it makes citizens partners in crime prevention and is the best bet for creating a majority-defenders-of-law situation. It is another

matter that the British in 1861 built a militaristic and repressive police in India to defend their predatory rule.

In the early 20th century, the head of Los Angeles police batted for Peel's approach. But as time went on, the police force under the influence of detective novels, developments in the automobile and communication sectors and sub-urbanisation, opted for the "professional crime-fighting model", which focused on three Rs — random preventive patrols, rapid response to calls for service and reactive criminal investigation. This reduced the role of citizens in crime prevention from collaborators to help-seekers. The increasing motorisation of police patrols isolated the force from the communities. The police interacted with citizens primarily at crime scenes, making the relationship between the two increasingly hostile. Cut off from community, police grew increasingly inflexible.

By the 1960s, as crime and urban riots escalated in the US, researchers questioned this model. A study revealed that crime-fighting activities like arrests constituted less than one-fifth of patrol activities. Most of the time, patrols were resolving conflicts, providing emergency and other public services, and maintaining order. Often, citizens called on the police to perform a variety of functions not specified in the law or in police manuals. Moreover, police officers regularly used their discretion in handling incidents, something that this model professedly abhorred.

Studies of the effectiveness of preventive automobile patrols found that despite guzzling substantial police time, they did limited crime-fighting activity. More than nine-tenths of arrests, for example, resulted from citizens' calls. Later studies found that preventive patrols by automobile did not effectively reduce crime, increase public satisfaction with police or decrease citizens' fear of crime. Several studies on the effectiveness of rapid response to calls for service found that it had little impact on crime prevention or arrests.

Such findings in the 1980s, along with the courts' increasing restrictions on searches and interrogations in deference to people's rights, led to the gradual displacement of the professional crime-fighting model by a set of strategies and programmes collectively called community policing. It pitched the police as neighbourhood problem-solvers rather than as incident-activated crime-fighters. Police officers assigned to community policing duties were asked to maintain close contact with the community and to solve their problems through foot patrols, community meetings and prompt service at police stations.

In the 1990s, community policing became part of a federal strategy to counter crime in the US. A law enacted in 1994 led to the hiring of 1,00,000 new community police officers and the establishment of the Community Oriented Policing Services office in the Department of Justice. By now, about two-thirds of local police departments employing some nine-tenths of US police officers have a community-policing plan of some type. More than $14.4 billion has been invested in the initiative so far. The result is a fall in violent crimes decade after decade.

India inherited a militaristic and repressive police force from the British. It has, by and large, persisted with the colonial crime-fighting model. Commentators attribute the system's persistence to a resource crunch, vested interests, an indifferent academia not challenging the efficacy of police practices and the glamourisation of tough cops. Faced with rising crimes, street violence and subversive actions, the central government did initiate the modernisation of the police force scheme in the 1970s. But instead of switching to problem-solving and community policing strategies as the US did, it kept investing in the crime-fighting strategy — motorised patrolling, quick reactions to calls for help and reactive investigation. It ignored the failure elsewhere of the fire-brigade model of reactive policing in curbing

crime by itself. It apparently led to an uninterrupted trend of an increase in crime and street violence in India. The ever-increasing fear of crime is reflected in gated communities and the booming private security industry.

There is an urgent need to embrace a hybrid of the community-oriented and crime-fighting policing strategies and to reinforce it with crime-mapping and trend analysis. This will keep the majority on the side of the law as well as deal effectively with career criminals and psychopaths. And it will be an optimum utilisation of scarce resources. This is the time to reinvent the role of constables, who constitute 86 per cent of the police, and transform them to problem-solvers. Or else, law enforcement agencies will be overwhelmed by rising crime and overrun by escalating street violence. With 356 million people in the 10-24 years age group, a proactive police engaging an interconnected, volatile and youthful population through community policing programmes is perhaps the only hope for enduring peace and lasting order.